ब्रिक्स और डी-डॉलराइजेशन : बुनियादी विचार बिंदु

डी-डॉलराइजेशन साल 2022 से एक चर्चित मुद्दा है। संयुक्त राज्य अमेरिका और यूरोप ने यूक्रेन पर आक्रमण के जवाब में रूस के अंतर्राष्ट्रीय भंडार का एक बड़ा हिस्सा फ्रीज़ कर दिया था। इसके बाद पूर्ण जब्ती की धमकियां शुरू हो गईं। इन कदमों ने चीन जैसे देशों के लिए एक चेतावनी का काम किया, जो अपने अंतर्राष्ट्रीय भंडार के बदले अमेरिकी डॉलर बॉन्ड के बड़े हिस्सेदार हैं। अमेरिका और उसके सहयोगियों के साथ किसी भी तरह के टकराव में जी रहे देशों ने महसूस किया कि उन्हें अमेरिकी डॉलर और पश्चिमी वित्तीय प्रणाली पर अपनी निर्भरता कम करनी चाहिए। इसके अंतर्गत निम्न कदम उठाए जा रहे हैं: अंतर्राष्ट्रीय लेन देन में राष्ट्रीय मुद्राओं का उपयोग, वैकल्पिक भुगतान प्रणालियों का निर्माण करना, चीनी रेनमिनबी पर निर्भरता बढ़ाना। इसी के साथ एक नई ब्रिक्स संदर्भ मुद्रा बनाने के पक्ष में भी आवाजें उठने लगी हैं।

पर ब्रिक्स मुद्रा को अस्तित्व में लाना राजनीतिक और तकनीकी रूप से जटिल प्रक्रिया होगी। राजनीतिक तौर पर देखें तो ब्रिक्स की मुद्रा विकसित करने में दो प्रमुख कठिनाइयाँ हैं। पहला, संयुक्त राज्य अमेरिका अपनी राष्ट्रीय मुद्रा को प्रमुख वैश्विक मुद्रा के रूप में इस्तेमाल करने का अपना 'विशेषाधिकार' छोड़ने को तैयार नहीं है। और दूसरा मसला है कि इस प्रयास में ब्रिक्स देशों को सही मायने में एक साथ ला पाना बड़ा कठिन होगा।

ब्रिक्स से अमेरिकी वर्चस्व को ख़तरा

संयुक्त राज्य अमेरिका अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में उसके वर्चस्व को चुनौती देने वाले किसी भी विकल्प को कमजोर करने के लिए उसके पास मौजूद सभी हथकंडे इस्तेमाल करेगा। द्वितीय विश्व युद्ध के अंत में और उसके तुरंत बाद तय हुए मौद्रिक एवं वित्तीय समझौतों के समय से अमेरिका ने ऐसा ही किया। एक अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा के हक़ में अर्थशास्त्री कीन्स द्वारा दिए गए प्रस्ताव को अमेरिकी अधिकारियों ने अस्वीकार कर दिया था। बाद में, अमेरिका ने अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) में अपनी वीटो शक्ति का उपयोग कर उन प्रक्रियाओं को अवरुद्ध किया जिनसे विशेष आहरण अधिकार (एसडीआर) को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पूर्ण मुद्रा के रूप में स्थापित किया जा सकता था। अब, एसडीआर केवल एक दिखावा भर है, जिसका आईएमएफ के बाहर कोई महत्त्व नहीं है। अमेरिका ब्रिक्स देशों के बीच डी-डॉलराइजेशन पर जारी शुरुआती चर्चा को अविश्वास की नज़र से देख रहा है। और संभावना है कि वह इस दिशा में उठाए जाने वाले हर कदम को रोकने और ब्रिक्स के बीच फूट डालने की हरसंभव कोशिश करेगा। उदाहरण के लिए, कोई पूछ सकता है : क्या भारत और दक्षिण अफ्रीका इस मामले पर अमेरिका से आने वाले दबाव से बच पाएँगे ? ब्राजील वर्तमान राष्ट्रपति लूला दा सिल्वा के नेतृत्व में एक स्वतंत्र विदेश नीति का अनुसरण कर रहा है, लेकिन क्या भविष्य में चुनी जाने वाली सरकार इस गंभीर मुद्दे में अमेरिका को नाराज करने का जोखिम उठाएगी ?

ब्रिक्स की सीमाएँ और संभावनाएँ

दूसरी तरफ़ क्या ब्रिक्स देश इस जटिल चुनौती से निपटने के लिए एक समूह के रूप में सामने आने को लेकर पूरी तरह सहमत व एकजुट हैं ? जब ब्रिक्स में पाँच ही देश थे, तब का अनुभव भी दिखाता है कि किसी मुद्दे पर ठोस राय बना कर आगे बढ़ना कितना कठिन था। विशेष रूप से ब्रिक्स के मुद्रा कोष (आकस्मिक रिज़र्व व्यवस्था, सीआरए) और विकास बैंक (एनडीबी) के निर्माण व कार्यान्वयन जैसे मुद्दों के संबंध में। क्योंकि पांचों सदस्य देशों के राष्ट्रीय हित व दृष्टिकोण काफ़ी अलग हैं। और, अफ़सोस कि, इन वार्ताओं व इनके परिणामस्वरूप बने वित्तीय तंत्रों में पांचों देशों का प्रतिनिधित्व करने वाले अधिकारियों में तकनीकी योग्यता भी कम है। यह टिप्पणी चुभ सकती है। लेकिन अगर हम डी-डॉलराइजेशन और अमेरिकी मुद्रा का विकल्प तलाशने के मुद्दे को लेकर गंभीर हैं, तो हमें कम से कम वास्तविकता का सही आकलन और

आत्म-आलोचना करना तो आना चाहिए।

2024 में शुरू की गई विस्तार प्रक्रिया के बाद अब ब्रिक्स+ देशों में आपसी तालमेल और भी मुश्किल हो गया है। ग्यारह सदस्य देशों के साथ, भविष्य में किसी भी मुद्दे पर एकजुट राय बनाकर आगे बढ़ना और भी बड़ी चुनौती होगी। हालांकी गैर-विशेषज्ञ, बाहर से देख रहे ऑबसर्वर और शिक्षाविद तक अक्सर इन चुनौतियों को ठीक से समझ नहीं पाते। इनमें से कुछ ब्रिक्स या ब्रिक्स+ के संयुक्त सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) और आबादी के आधार पर हड़बड़ाहट में यह दावा करने लगते हैं कि यह समूह दुनिया में एक बड़ी ताक़त बन गया है। जबकि ब्रिक्स के कुछ देश तो शायद इस समूह में अभी और भी देशों को शामिल करना चाहते हैं। पत्रकारिता में प्रचलित दावा माने तो, ब्रिक्स+ कथित तौर पर वैश्विक दक्षिण के लिए एक अहम मंच बनने जा रहा है। यह सुनना अच्छा लगता है, पर ऐसा भी हो सकता है कि समूह के सदस्यों की लगातार और तेज़ी से बढ़ती संख्या अंततः ब्रिक्स+ को 'वैश्विक दक्षिण का संयुक्त राष्ट्र' बना दे, जो कि संयुक्त राष्ट्र की ही तरह अप्रभावी हो।

पर हमें इतना भी नकारात्मक नहीं सोचना चाहिए। सच तो यही है कि आबादी के लिहाज़ से ब्रिक्स समूह में दुनिया के बड़े देश सदस्य हैं। इसके चार मूल सदस्य – ब्राजील, रूस, भारत और चीन – दुनिया के सबसे अधिक जनसंख्या वाले देश हैं। क्रय शक्ति समता (जीवनयापन लागत और मुद्रास्फीति दरों में अंतर) के आधार पर समायोजित सकल घरेलू उत्पाद के मामले में चीन अब सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है, जिसने अमेरिका को काफी पीछे छोड़ दिया है। ब्रिक्स देश मौजूदा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा एवं वित्तीय ढाँचे से लंबे समय से परेशान हैं। और 21वीं सदी के बीते दो दशकों में इस ढाँचे के प्रति उनके असंतोष के कारण और बढ़े ही हैं। वित्तीय, आर्थिक, और राजनीतिक अस्थिरता तेज़ी से बढ़ी है, लेकिन पश्चिम ब्रिक्स व अन्य उभरते देशों के समावेशन के लिए जरूरी बदलाव और रियायतें लागू करने को तैयार नहीं दीखता। डॉलर-आधारित अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था का दिवालियापन 1960 के दशक से लगातार स्पष्ट रूप से सामने आ रहा है।

डी-डॉलराइजेशन : चीन पर दारोमदार या सामूहिक ज़िम्मेदारी ?

इन चुनौतियों का सामना करने का प्रयास करना ब्रिक्स देशों का कर्तव्य है। यदि हम सामूहिक रूप से इस काम में असफल होते हैं, तो शायद चीन पर डी-डॉलराइजेशन को बढ़ावा देने की ज़िम्मेदारी डाली जा सकती है। पर अभी यह भी स्पष्ट नहीं है कि क्या चीन डॉलर की जगह अपनी मुद्रा को वैश्विक मुद्रा बनाना चाहता है और क्या उसके पास ऐसा करने के लिए पर्याप्त साधन हैं। चीन एक ऐसी अर्थव्यवस्था है जो अभी वित्तीय शर्तों और कई अन्य पहलुओं से पूरी तरह तैयार नहीं है, ऐसे में यह 'विशेषाधिकार' उसके लिए 'बोझ' भी बन सकता है। यह एक अहम सवाल है कि क्या चीन रेनमिनबी को पूर्ण रूप से परिवर्तनीय मुद्रा (कंवर्टिबल करेन्सी) बनाना चाहेगा ? क्योंकि शायद यह कदम अमेरिकी डॉलर के वर्चस्व को प्रभावी रूप से हटाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण साबित हो। क्या चीन अपनी मुद्रा की अंतर्राष्ट्रीय माँग में उछाल आने से बढ़ी क़ीमत को स्वीकार करेगा ? रेनमिनबी की बढ़ी क़ीमत से चीन की निर्यात प्रतिस्पर्धा और चालू खाता भुगतान पर क्या असर पड़ेगा ? क्या चीनी मुद्रा की बढ़ती क़ीमत से चीन द्वारा अब तक अपनाई गई, अर्थव्यवस्था और वित्तीय प्रणालियों को अंतर्राष्ट्रीय उतार-चढ़ाव से बचाए रखने की सफल रणनीति को नुक़सान नहीं होगा ? और क्या चीन डॉलर को हटाने के बदले अमेरिका के ग़ुस्से का असर झेलने को तैयार है ? यह सवाल दिखाते हैं कि अकेले चीन से डी-डॉलराइजेशन प्रक्रिया का नेतृत्व करने की उम्मीद करना मुश्किल साबित हो सकता है।

तो फिर हम वापस ब्रिक्स पर आते हैं। मान लीजिए कि ब्रिक्स समूह समन्वय व राजनीतिक भेदभाव से जुड़ी समस्याओं को हल करने में तथा विशेषज्ञों की कमी को दूर करने में कामयाब हो जाता है। ऐसी सूरत में डॉलर के वर्चस्व को हटाने की ज़िम्मेदारी सदस्य मुल्कों पर साझा रूप से आएगी, और इस प्रक्रिया के राजनीतिक व तकनीकी असर किसी अकेले देश पर न आकर सभी सदस्य देशों में बंट सकते हैं।

बीते साल यह कहा जा रहा था कि रूस अमेरिकी डॉलर और पश्चिमी वित्तीय प्रणाली का सबसे बड़ा शिकार होने के अपने अनुभव तथा ब्रिक्स की अध्यक्षता की ज़िम्मदारी के मद्देनज़र इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम आगे बढ़ाएगा। रूस ने अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का आकलन और डी-डॉलराइजेशन की दिशा में ब्रिक्स द्वारा उठाए जा सकने वाले संभावित कदमों पर काम करना शुरू भी कर दिया था। और यह उम्मीद की जा रही थी कि ब्राज़ील में इस साल होने वाला सम्मेलन इस दिशा में और पुख़्ता कदम उठाएगा।

लेकिन कुछ प्रतीकात्मक उपलब्धियों के अलावा, ब्रिक्स 2025 शिखर सम्मेलन में ब्रिक्स की सीमाएँ साफ़ नज़र आईं। अहम नेताओं की अनुपस्थिति और राजनीतिक मतभेदों ने एक बार फिर से एकीकृत मोर्चे की संभावनाओं को सीमित कर दिया। फ़िलहाल तो इन बाधाओं ने ब्रिक्स की आकांक्षाओं और उसकी वर्तमान क्षमताओं के बीच के अंतर को उजागर किया है।

(यह लेख **वेनहुआ ज़ोंगहेंग** पत्रिका के 'ब्रिक्स व डी-डॉलराइजेशन: संभावनाएँ एवं चुनौतियाँ' अंक में प्रकाशित **संपादकीय लेख** के आधार पर तैयार किया गया है। पूरा अंक पढ़ने के लिए **यहाँ** क्लिक करें।)